

त्याग-पत्र

(मौलिक सामाजिक उपन्यास)

प्रकाशक—

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई

प्रकाशक—
नाथूराम प्रेमी,
हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,
हीराबाग-बम्बई

पहली बार
अक्टूबर, १९३७
मूल्य सत्रा रुपया

मुद्रक—
रघुनाथ दिपाजी देसाई,
न्यू भारत प्रिंटिंग प्रेस
६ केलेवाडी, गिरगाव बम्बई नं० ४



सर एम० दयाल जो इस प्रान्तके चीफ़ जज थे और जजी त्यागकर इधर कई वर्षोंसे हरिद्वारमें विरक्त जीवन बिता रहे थे, उनके स्वर्गवासका समाचार दो महीने हुए पत्रोंमें छपा था। पीछे उनके कागज़ोंमें उनके हस्ताक्षरके साथ एक पांडुलिपि पाई गई जिसका संक्षिप्त सार इतस्ततः पत्रोंमें छप चुका है। उसे एक कहानी ही कहिए। मूल लेख अंग्रेज़ीमें है। उसीका हिन्दी उल्था यहाँ दिया जाता है।

कहानीमेंसे स्थानों और व्यक्तियोंके नाम और कुछ ऐसे ही ऐहिक विचरण अनिवार्य न होनेके कारण बदल या कम कर दिये गये हैं।



त्याग-पत्र



नहीं भाई, पाप-पुण्यकी समीक्षा मुझसे न होगी। जज हूँ, कानूनकी तराजूकी मर्यादा जानता हूँ। पर उस तराजूकी ज़रूरतको भी जानता हूँ। इसलिए कहता हूँ कि जिनके ऊपर राई-रस्ती नाप-जोखकर पापीको पापी कहकर व्यवस्था देनेका दायित्व है, वे अपनी जानें। मेरे वसका वह काम नहीं है। मेरी बुआ पापिष्ठा नहीं थीं, यह भी कहनेवाला मैं कौन हूँ? पर आज मेरा जी अकेलेमें उन्हींके लिए चार आँसू बहाता है। मैंने अपने चारों ओर तरह-तरहकी प्रतिष्ठाकी बाड़ खड़ी करके खूब मजबूत जमा ली है। कोई अपवाद उसको पारकर मुक्तक नहीं आ सकता। पर उन बुआकी याद जैसे मेरे सब कुछको खड़ा बना देती है। क्या वह याद मुझे अब चैन लेने देगी? उनके मरनेकी खबर अभी पाकर बैठा हूँ। मुझको नहीं मालूम वह कैसे मरीं। घुल-घुलकर मरीं, इतना तो जानता

हूँ। इतना तो उनकी मौतके दसियों वर्ष पहलेसे जानता था। फिर भी जानना चाहता हूँ कि अन्त समय क्या उन्होंने अपने इस भतीजेको भी याद किया था ? याद किया होगा, यह अनुमान करके रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

हम लोगोंका असली घर पञ्छाहकी ओर था। पिता प्रतिष्ठावाले थे और माता अत्यंत कुशल गृहिणी थीं। जैसी कुशल थीं वैसी कोमल भी होतीं तो—? पर नहीं, उस 'तो—?' के मुँहमें नहीं बढना होगा। बढ़े, कि गये। फिर तो सारी कहानी उस मुँहमें निगल कर समा जायगी और उसमेंसे निकलना भी नसीब न होगा। इतना ही हम समझें कि माँ जितनी कुशल थीं उतनी कोमल नहीं थीं। बुआ पिताजीसे काफी छोटी थीं। मुझसे कोई चार-पाँच वर्ष बड़ी होंगी। मेरी माताके संरक्षणमें मेरी ही भौति बुआ भी रहती थीं। वह संरक्षण ढीला न था और आज भी मेरे मनमें उस अनुशासनकी कड़ाईके लाभालाभका विचार चला करता है।

पिताजी दो भाई थे और तीन बहन। भाई पहले तो ओवरसियरीमें युक्तप्रान्तके इन-उन जिलोंमें रहे। फिर एकाएक उनकी इच्छाके अनुकूल उन्हें बरमा भेज दिया गया। वह तबसे वहीं बस गये और धीमे-धीमे आना जाना एक राह-रस्मकी बात रह गई। इधर वह सिलसिला भी लगभग सूख चला था। दो बड़ी बहनें विवाहित होनेके बाद प्रसव-संकटमें चल बैसी थीं। अकेली यह छोटी बुआ ही रह गई थीं।

पिताजी उनको बड़ा स्नेह करते थे। उनकी सभी इच्छाएँ वह पूरी करते। पिताका यह स्नेह उन्हें बिगाड़ न दे, इस बातका मेरी माताको खासा खयाल रहता था। वह अपने अनुशासनमें सावधान थीं। मेरी बुआको कम प्रेम करती थी, यह तो किसी हालतमें नहीं कहा जा सकता। पर आर्य गृहिणीका जो उनके मनमें आदर्श था, मेरी बुआको वे ठीक उसीके अनुरूप ढालना चाहती थी।

बुआका तबका रूप सोचता हूँ तो दंग रह जाता हूँ। ऐसा रूप कब किसीको विधाता देता है। जब देता है तब कदाचित् उसकी कीमत भी वसूल कर लेनेकी मन-ही-मन नीयत उसकी रहती है। पिताजी तो बुआकी मोहिनी मूरत-पर रीझ-रीझ जाते थे। खैर उस बातको छोड़ें। मेरी और बुआकी बहुत बनती थी। वह शहरके बड़े स्कूलमें बग़्घीमें पढ़ने जाती थीं और वर आकर जो नई शरारतें वहाँ होतीं अकेलेमें सब मुझको सुनाती थीं। ‘आज मास्टरनीजीको ऐसा छकाया, ऐसा छकाया, कि प्रमोद, तुम्हें क्या बताऊँ।’ कहकर वह ऐसा ठहाका मारकर हँसती कि मैं देखता रह जाता। उस समय मुझे कहानीकी परियोंका ध्यान हो आता और मैं मुग़्ध भावसे अपनी बुआकी ओर आकृष्ट हो रहता।

कहतीं—“और प्रमोद, वह है नहीं गणितके मास्टर। शीलाने उनकी कुर्सीकी गद्दीमें पिन चुभोकर रख दी, शीला बड़ी नटखट है। मास्टरकी एक आँख तैने नहीं देखी, प्रमोद ? मास्टर देखते इस तरफ़ हैं तो वह आँख किसी और

ही तरफ़ देखती है। पिन जो चुभी तो खूब विगड़े, खूब विगड़े। डपटकर बोले—‘यह किसकी शरारत है? वह खड़ी हो जाय।’ सब लड़कियाँ सहमी बैठी रहीं। शीला ऐसी हो गई जैसे ऊद-विलावके आगे मूसी। मास्टरने बेंत फटकार कर कहा—‘मैं तुम्हें एक-एकको पीटूँगा।’ सचमुच उनको गुस्सा बहुत था। उनका गुस्सा देखकर सब लड़कियाँ एक दूसरेकी तरफ़ देखने लगीं। यह मुझको बुरा लगा। मैंने खड़े होकर कहा—‘यह मेरा कसूर है, मास्टरजी।’ मास्टरजी पहले तो मुझको देखते रहे। फिर कहा—‘यहाँ आओ।’ मैं चली गई। कहा—‘हाथ फैलाओ।’ मैंने हाथ फैला दिया। उस फैली हथेलीपर उन्होंने तीन चार बेंत मारे। मैंने समझा था और मारेंगे। पर जब बेंत उन्होंने अपने हाथसे अलग कर दिया तो मैंने भी अपना हाथ खींच लिया। सच कहूँ, प्रमोद, मुझे कुछ भी चोट नहीं लगी। मैं उनकी उस आँखकी तरफ़ देख रही थी। मास्टरजी मुझे देख रहे थे, पर वह आँख जाने कहाँ देख रही थी। अरे प्रमोद, तू उन मास्टरको एक बार तो ज़रूर ही देख। फिर मास्टरजीने चिल्लाकर कहा—‘अब तो नहीं करेगी?’ मैं चुपचाप खड़ी रही और सोचती रही कि एक बार तो मैं भी सचमुचका कसूर करके देखूँगी। मास्टरजीने चिल्लाकर कहा—‘जाओ।’ मैं अपनी जगहपर आ गई। शीला मेरे पास बैठती है। वह मुझे ऐसे देखने लगी जैसे—खा जायगी। मैंने कहा—‘दुर, पगली!’ उसने एक हाथसे मेरे हाथको वहीं डेस्कपर रखे-

रक्खे दवाया । उसकी आँखें बहुत फैली हुई थीं । शीला बड़ी पगली लड़की है । मैंने कहा—‘शीला, क्या करती है ? देख, मास्टरकी वही आँख तुझे देख रही है ।’ प्रमोद, तू शीलाको जानता है ? शीला बड़ी अच्छी लड़की है । पर नटखट भी है । हम दोनों बहनेली हो गई है । पर शीला पगली है । स्कूलसे मैं आने लगी तो और कुछ नहीं तो मेरे गले लगकर रोने लगी । मैंने उसके गालपर चपत मारकर कहा—‘क्या है शीला ? क्या है ?’ वह फफक फफक कर रोती रही, बोली कुछ नहीं । प्रमोद, तुझे एक रोज़ शीलाके घर ले चढ़ूँगी । चलेगा ? ”

कहते-कहते थोड़ी देर बाद एकाएक जाने उन्हें क्या याद आ जाता, चिढ़क पड़तीं । कहतीं—‘अरे चल रे चल । नहीं तो तेरी माँ त्रिगड़ेंगी ।’ मेरी मोंका बुआ सदा डर मानती थीं और उन्हें मेरे सामने सदा ‘तेरी माँ’ कहा करती थीं ।

बुआका पढ़नेमें विशेष मन नहीं था । पर वह किताब-कापियों अपनी बहुत अच्छी तरह रखती थीं और स्कूल जानेका उन्हें बड़ा चाव था । स्वभाव बड़ा हँसमुख था और निर्द्वंद्व । बस मोंके सामने ज़रा सकुचाई रहती थीं ।

बचपनकी बहुत-सी बातें याद आती हैं । वह कैसे मुझे कपड़ा पहनाती थीं, कैसे चपत मार-मारकर खिलतीं, कैसे प्यार करतीं और कैसे अपने भेदकी सब बातें मुझसे कहती थीं—यह सभी कुछ याद आता है ।

धीमे-धीमे हम बड़े होते गये और बुआ बुद्धिमती होती

गई। मुझे उनकी उपस्थितिमें बड़ा डारस रहता था, और मैं उनके साथके लिए हरवक्त भूखा रहता था। जब वह मुझे मिलतीं बड़े मीठे-मीठे उपदेश दिया करती थीं। 'देखो बेटा, बड़ोका कहना मानना चाहिए। सबका आदर करना चाहिए। सदा सच बोलना चाहिए। अच्छे लड़के आगे जाकर बड़े आदमी बनते हैं। क्यों भैया प्रमोद, तुम बड़े आदमी नहीं बनोगे?' कभी वह मुझे बेटा कहतीं, कभी भैया कहतीं, कभी कुछ भी और न कहतीं, सिर्फ गदहा कहतीं।

वह नयी क्लासमें थीं या दसवींमें, मुझे ठाँक याद नहीं। मेरी बारह वर्षकी अवस्था होगी। मेरा मन उस समय बिल्कुल बुझाके बसमें था। वह मुझे सचमुच बहुत प्यार करती थीं। लेकिन तभी मैंने अनुभव किया कि उनके प्यारका रूप बदल गया है। वह मुझे अब उपदेश नहीं देतीं बल्कि अपनी छातीमें लगाकर जाने पार कहाँ देखने लगती हैं। वह अब मुझसे बातें अधिक नहीं करतीं। मैं पूछता—'बुझा, क्या बात है? आज स्कूलमें क्या हुआ?' वह कहतीं—'कुछ नहीं भइया, कुछ नहीं हुआ।' यह कहकर जैसे उनसे मेरी ओर न देखा जाता। तब मैं हाथ पकड़कर उनको आँखोंमें देखते हुए कहता—'देखो बुझा, तुम हमें कुछ बताती नहीं हो।' इसपर मेरे दोनों हाथोंको अपने बाएँ हाथमें लेकर दाएँ हाथसे मुझे धीरेसे चपत मारकर कहतीं—'हैं न प्रमोद बाबू पागल!'

मैंने उस समय यह भी अनुभव किया कि उन्हें अब एकान्त उतना बुरा नहीं लगता। शामके वक्त छतपर खटोला

डाले ऊपर उड़ती हुई चीलोंको ही चुपचाप देख रही है । कभी पतंगोंके पेच देखती है और कटी हुई पतंगपर, जब तक वह ओझल न हो जाय, आँख गाढ़े रहती हैं । और नहीं तो खटोलेपर पेटके बल लेटकर कोइलेसे धरतीपर कीरम-काँटे ही खींचती हैं ।

मैं ऊपर छतपर पहुँचता तो उन्हें इस भावमें देखकर रुका रह जाता । जब उन्हें आकर मेरे वहाँ खड़े होनेका बोध होता तो चौंकी-सी एकदम कहतीं—‘अरे प्रमोद, तू कहाँ था ?’

“ यही था । ”

“ क्यों रे, तू अब मुझसे बोलता भी नहीं ! ”

मैं बिना जवाब दिये पास आकर खटोलेपर उनकी बराबर बैठ जाता । वह शनैः शनैः मुझको अपने ऊपर ही लुढ़का लेतीं । कहतीं—‘ देख, पतंग देख, पतंग । ’

थोड़ी देर बाद कहतीं—‘तुझे पतंग अच्छी लगती है ?’

म कहता—“हाँ ।”

“ तू पतंग उड़ाएगा ? ”

मैं कहता—“ वाबूजी, मना करते हैं । ”

इसपर वह एकाएक मुझे अंकमें भरकर उत्साहके साथ कहतीं—‘ हम तुम दोनों संग पतंग उड़ाएँगे । ऐसी उड़ाएँगे कि खूब दूर ! सबसे ऊँची, सबसे ऊँची ! उड़ाएगा पतंग ?’

मैं कहता—“ पैसे दो, मैं लाऊँ । ”

वह थोड़ी देर मुझे देखती रहतीं । वह दृष्टि अनव्रक्त होती थी । मानों मैं उन्हें दीख ही न रहा होऊँ । मुझसे आर-पार होकर जाने वह क्या देख रही हूँ । फिर एकाएक शिथिल पड़कर कुछ लजाकर कहतीं—‘चल रे, पतंगसे बालक गिर जाते हैं ।’

इन्हीं दिनोंकी बात है । एक रोज़ स्कूलसे वह काफी देरसे लौटी । माने पूछा—“कहाँ रह गई थी ?”

“शीलाके चली गई थी ।”

माँ सुनकर चुप हो गई ।

उस दिन बुधा रोज़से अस्थिर मायूम होती थी । वह प्रसन्न थी और किसी काममें उनका जी नहीं लगता था । उन्होंने मुझसे तरह-तरहके प्रस्ताव किये, तरह-तरहकी बातें कीं । ‘प्रमोद, एक रोज़ नहरके पुल चलना चाहिए । चलोगे ?’, ‘बताओ, तुम्हें मिठाई कौन-सी अच्छी लगती है ? बेवर ! बेवर भी कोई मिठाई है ! छिः !’, ‘देखो तुम पतंग नहीं लाये न !’, ‘प्रमोद, मैं शीलाके यहाँ रह गई थी । तेरी माँको कुछ ख्याल तो नहीं हुआ होगा !’, ‘चल रे चल, प्रमोद, यहाँ क्या, कमरेमें बैठना । चलकर ऊपर हवामें बैठोगे ।—क्यों ?’ एक बात कहती थीं कि झट भूल जाती थीं । उस समय उनके मनमें ठहरता कुछ नहीं था । न विचार, न अविचार । जैसे भीतर बस हवा हो, और मन हल्का-फुल्का बस उड़-उड़ आना चाहता हो । वह बेवात हँसती थीं और बेवात मुझे पकड़कर इधरसे उधर खींचती

थीं । उस दिन वह मेरी समझमें नहीं आ रही थीं । मैंने कहा—“बुआ, आज क्या बात है ?”

बोलीं—“मैं बुआ हूँ ? बुआ मुझे अच्छा नहीं लगता । प्रमोद, तू मुझे जीजी कहा कर, जीजी । शीली मुझे जीजी कहती है ।”

मैंने कहा—“मेरी तो बुआ हो ।”

“मैं नहीं बुआ होना चाहती । बुआ ! छीः ! देख, चिड़िया कितनी ऊँची उड़ जाती है । मैं चिड़िया होना चाहती हूँ ।”

मैंने कहा—“चिड़िया !”

बोलीं—“हाँ, चिड़िया ! उसके छोटे छोटे पंख होते हैं । पंख खोल वह आसमानमें जिधर चाहे उड़ जाती है । क्यों रे, कैसी मौज है ! नन्हीं-सी चिड़िया, नन्हीं-सी पूँछ । मैं चिड़िया बनना चाहती हूँ ।”

उस रोज़ रातको वह मुझे बहुत देर तक अपनेसे चिपटाए रहीं । पूँछने लगीं—‘प्रमोद, तू मुझे प्यार करता है ?’ सुन कर बिना कुछ बोले मैंने अपना मुँह उनकी छातीके घोंसले-में और दुबका लिया । इसपर वह बोलीं—‘प्रमोद, मैं तुझे बहुत प्यार करती हूँ ।’

उस रोज़के बाद कई दिन तक उन्हें स्कूलसे आनेमें देर होती रही । एक रोज़ इतनी देर हुई कि नौकरको भेजना पड़ा और वह उन्हें शीलाके घरसे बुलाकर लाया ।

उससे तीसरे रोज़की बात है । मैं बाहरसे घरमें आया

था। देखता हूँ कि माँ कहीं झपटी जा रही हैं। मुझे देखते ही ठिठकीं और असंगत-भावसे पूछ बैठीं—‘क्यों रे, कहाँ था?’ माँकी मुद्रा देखकर मुझसे कुछ उत्तर नहीं बन पड़ा।

“चल, ला, बेंत तो ला।”

मैं सुन कर वहीं खड़ा रह गया। तब माँने चिल्लाकर कहा—

“सुनता नहीं है? जाकर बेंत ला।”

मुझे किसी बातका कुछ पता नहीं था। डर था कि मैं ही पिटूँगा। डरते-डरते बाबूजीके कमरेमेंसे उठा लाकर बेंत मैंने दे दिया। इसपर वह बिना कुछ कहे सुने पीछेवाली कोठरीमें लौटकर चली गई। घुसते ही उन्होंने किवाड़ बंद कर लिये और उसके बाद ही सपासप बेंतसे किसीके पीटे जानेकी आवाज़ मेरे कानोंपर पड़ी। मैं वहीं गडा-सा रह गया। बेंतकी पहली चोटपर तो एक चीख मुझको सुनाई दी थी, उसके बाद रोने-कलपनेकी आवाज़ मुझे नहीं आई। बेंत तड़ातड़ पड़ रहे थे। मुझे संदेह हुआ, कहीं कुछ तो नहीं है। पर वह संदेह न टल सका, न पक्का ही हो सका। मैं बेवस भावसे वहीं खड़ा रह गया। मन सुन्न पड़ गया था और वह देर मुझे असह्य हो रही थी।

थोड़ी देर बाद माँ दरवाजा खोलकर बाहर आईं। उनके ओठ नीले थे और जिस हाथमें बेंत था वह काँप रहा था। उनका चेहरा मानों राखसे पुत गया था। ऐसा लगता था कि माँ अगले क्षण अपनेको ही बेंतसे न उधेड़ने लगे। मानों अपनेको नहीं मार रही हैं, तो उनपर बहुत जोर पड़

रहा है। वह मेरे सामनेसे होकर अपने कमरेमें चली गई। जाते जाते द्वारपर रुकीं और जोरसे अपने हाथके बेंतको दालानमें फेंक दिया। बेंत मेरे पास आकर गिर गया।

मेरी कुछ भी समझमें न आ रहा था। मैं सकपकाया-सा खड़ा था। थोड़ी देर बाद मैं साहसपूर्वक उस कोठरीमें गया। देखता क्या हूँ कि वहाँ बुआ औधी हुई पड़ी है। उनकी साड़ी इधर उधर हो गई है और बदनका कपड़ा बेहद मारसे झीना हो गया है। जगह-जगह नील उभर आये हैं। कहीं-कहीं लहू भी छलक आया है। बुआ गुम-सुम पड़ी है। न रोती हैं, न सुवकती हैं। बाल बिखरे हैं और धरतीपर पड़ी दोनों बांहोंपर माथा टिका है। मुझे वहाँ थोड़ी देर खड़ा रहना भी असह्य हो गया। मुझसे कुछ भी नहीं बोला गया। बुआके गलेसे लगकर मैं वहाँ थोड़ा रो लेता तो ठीक होता। पर वह संभव न हुआ। मैं दवे पाँव लौट आया।

वह दिन था कि फिर बुआकी हँसी मैंने नहीं देखी। इसके पाँच-छह महीने बाद बुआका व्याह हो गया। मैंने जल्दी-जल्दी तत्परताके साथ सब व्यवस्था कर दी। बुआका उसी दिनसे पढ़ना छूट गया था। वह उस दिनसे सीने-पिरोने, झाड़ने-बुहारने और इसी तरहके और कामोंमें शांत भावसे लगी रहती थीं। काम करते रहनेके अतिरिक्त उन्हें और किसी बातसे मतलब न था। न किसीकी निगाहमें पड़ना चाहती थीं। कपड़ा कोई धोत्रीका धुला नया पहनतीं तो उसे जल्दी मैला भी कर लेती थीं। मुझसे वह तब बची-बची

रहती थीं। मुझे तो ऐसा दीखने लगा कि बाबूजीका भी भारी चेहरा हो आया है। वह बुआसे कभी कभी विनोद करना चाहते हैं, पर बुआको उत्तरमें अत्यंत अचंचल देखकर मानों फिर स्वयं अपनेमें मुँह लटका रहते हैं। माँका अजब हाल है। मुझे काम-बेकाम डाँटती फटकारती रहती हैं। नौकरोंको तो बहुत ही फिड़कियाँ सुननी होती हैं। बीच-बीचमें असंगत भावसे बड़बड़ाकर जाने अस्फुट भावसे क्या कहती रहती हैं। फिर एकाएक फट पड़ती हैं। मैं सामने हुआ मुझ-पर टूट पड़ती हैं—

“आँखें फाड़कर क्या देख रहा है, प्रमोद ? बुआसे लेकर झाड़ू खुद नहीं लगाई जाती ? आजकलके लड़के बस काम-चोर होते जाते हैं।”

अथवा कहतीं—

“कहाँ गया है वह बंसी ?—नहीं है ? नहीं है ? सारा काम बेचारी लड़कीको उठाना पड़ता है ! अच्छा, एक रुपया जुर्माना ! ये नौकर हुरामी होते जाते हैं !”

ऐसी बातें हर दिन कुछ न कुछ सुन पड़ती हैं। पर बुआसे सीधी बात माँ कुछ नहीं कहतीं।

ऐसे ही व्याहके दिन आते गये और व्याह हो गया। विदा होनेसे पहले बुआ कई घंटे अपनी छातीमें मुझे चिपकाए बहुत बहुत आँसू रोती रहीं। समझाने लगीं—“भैया प्रमोद, बड़ोकी आज्ञा सदा माननी चाहिए। सबका आदर करना चाहिए। सदा सच बोलना चाहिए। अच्छे लड़के ऐसे ही बनते हैं। प्रमोद, तू एक दिन बड़ा आदमी होगा न ?”

मैं यो तो काफी बड़ा हो चला था, निरा बच्चा अब नहीं था । तो भी मैं उस समय बुआके उस अंकमें चुपचाप शावक-सा पड़ा रहा ।

बुआ बोली—“ प्रमोद, तेरी बुआ तो मर गई । तू उसे अब कभी याद मत करियो । कैसा राजा भैया है हमारा ! ”

उस समय मेरी आँखें भीग आई थीं । लेकिन मैंने यह बुआको पता नहीं चलने दिया और मुँह दुबकाए वहीं पड़ा रहा ।

बुआके जाते समय मैं खुलकर फूट-फूटकर रोया । मैंने किसीकी शर्म नहीं की । मैंने मचलकर घूँघटवाली बुआका आँचल पकड़ लिया । कह दिया, ‘ मैं बिना बुआके अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा, नहीं करूँगा, नहीं करूँगा । ’ माँसे कह दिया कि ‘ तू राजस है और मैं इस घरमे पैर भी नहीं रखूँगा । ’ इसपर बाबूजीने वहाँके वहाँ मुझे दो-तीन चपत जमा दिये । पर मैं नहीं उठा, नहीं उठा । आँचल छूटा तो मैं बुआके पैरोंमें लिपट गया । उनके पैरोंके बिछुआँको मैंने जोरसे पकड़ लिया । इसपर बुआने झुककर मुझे पैरोपरसे उठाया । घूँघटके भीतर उनकी आँखें आँसुओंसे सूजी हुई थीं । बुआने मेरी ठोड़ी हाथमे लेकर मेरे मुँहकी तरफ देखते हुए कहा— “ प्रमोद, तू मेरी बात नहीं मानेगा ? मुझे जाने दे । मैं जल्दी आऊँगी । ”

बुआके उस आँसू-भरे मुखड़ेके आगे मेरी हठ विलकुल गल गई । मैंने पूछा—“ जल्दी आओगी ? ”

“ जल्दी आऊंगी । ”

“ मेरी कसम खाओ । ”

“ अपने प्रमोदकी कसम खाती हूँ । ”

पास ही माँ खड़ी थीं। उनका मुँह सूखा था। उनको देखकर जी हो आया कि क्यों मैं उनके गले नहीं लग जाऊँ और कहूँ—“ माँ ! माँ ! ” उनकी ठोड़ी हाथमें लेकर कहूँ—“ मेरी माँ ! मेरी माँ ! ” इतनेमें बुआने मेरे हाथमें एक रेशमका रुमाल थमाया और एक झपटमें वहाँसे चली गईं। मैं सँभल भी न पाया था कि द्वारके आगेसे मोटर जा चुकी थी।

२

बुआके चले जानेके बाद मेरा चित्त घरमें नहीं लगा। माँ मुझको समझाती थीं। कभी ऐसा भी होता था कि मैं माँको समझाता था। पर व्याहकी धूमधामके बाद घरमें एकका सूनापन भी बहुत मालूम होता था।

चौथे रोज़ बुआ आ गईं। व्याहके वक्त मैंने अपने फूफाको देखा था। उनकी बड़ी बड़ी मूँछें थीं और उमर ज्यादा मालूम होती थी। डीलडौलमें खासे थे। मुझे यह पीछे मालूम हुआ कि उनका यह दूसरा विवाह था। हमारी बुआ फूल-सी थीं। जब वह ससुरालसे आईं मेरे लिए कई तरहकी चीज़ें लाईं थीं। उन्होंने मुझे एकान्तमें ले जाकर कहा—“प्रमोद, देखेगा, मैं तेरे लिए क्या-क्या लाई हूँ।”

पर मैं उन वस्तुओंको देखनेको इतना उत्सुक नहीं था।

मैं चाहता था कि बुआ मुझसे बातें करें। जैसे पहले सुख-दुखकी बातें करती थीं। वैसे अब भी बतावें कि जिस समुरालसे वह आई है वहाँ उनका क्या हाल रहा। चेहरेका रंग उतरा-सा क्यों है? अनमनापन क्यों आज कल उनकी तबीयतमें रहता है? बुआ, मैं वही प्रमोद हूँ। देखो, मैं अब बच्चा नहीं हूँ। तुम कह कर देखो तो, मैं तुम्हारा सब दुख समझ लूँगा। मैं बालक नहीं हूँ, बुआ। जो तुम्हें दुख देता है, उसकी मैं अच्छी तरह खबर ले सकता हूँ। मुझे चीज़-बीज़ नहीं देखनी। बुआ मेरी, इस प्रमोदको अपने मनका कुछ हाल नहीं समझाओगी?

बिना बोले मैं उन्हें यह सब कह देना चाहता था। मुझे चुप देख उन्होंने कहा—“क्यों रे, अपनी चीज़ें तू नहीं देखेगा? चुप क्यों है?”

मैंने उनकी तरफ़ देखकर धीमेसे कहा—“दिखाओ।”

बुआ असमंजसमें पड़ गई। बोली—“यह तू बोल कैसे रहा है? क्या हुआ है तुम्हें?”

मैंने कहा—“कुछ नहीं।”

“फिर क्या बात है?”

मैंने कहा—“तुम मुझे पहले जैसा अब नहीं मानती हो।”

बुआको शायद यह बात छू गई। बोली—“कैसा बोलता है रे! पहले जैसा नहीं मानती हूँ तो भला कैसा मानती हूँ?”

“पराया मानती हो।”

यह गुनगुन स्तब्ध-भावसे वह मुझे देखती रह गई। खींच-